

विषय-सूची

भूमिका.....	vii
आभार.....	ix
ड्रामा आधी रात का.....	1
चाही कलम, उठाई बंदूक.....	9
मौत के साए में.....	17
नापाक युध्द.....	26
ज़िन्दगी की पाठशाला.....	3
काम ही काम.....	48
ऑपरेशन लोखंडवाला.....	55
मेरी बंदूक और मैं.....	64
किस्सा कट्टरपंथियों का.....	69
मिली सज़ा – पाया इनाम.....	79
आप की सेवा में.....	85
भेड़चाल का कहर.....	95
मेरा ईश्वर और मैं.....	101
समर्पण.....	104
अंतिम टिपण्णी.....	114

भूमिका

जब इस क़िताब की कल्पना की जा रही थी और खान साहब ने इसके बारे में मेरी राय पूछी तो मुझे जवाब देने में ज़्यादा समय नहीं लगा। मैंने जो भी मुझे कहना था सीधे-सादे शब्दों में उन्हें बोल दिया, ठीक उन्हीं के स्टाइल में जिसके लिए वे मशहूर थे।

क़िताब कैसी नहीं होनी चाहिए, इस पर हम दोनों की सहमति थी और मुझे इस बात से खुशी हुई। क़िताब ना तो उनके जन्म के बारे में है — कि वो कब, कितने बजे और कहाँ पैदा हुए; और ना ही उनकी जीवनी। ये क़िताब उनकी उपलब्धियों और कारनामों का बखान भी नहीं थी। ये क़िताब उन घटनाओं के बारे में होगी, जिनका उन्होंने उनके कार्यकाल के दौरान सामना किया; टीम के साथ उनका रिश्ता क्या था, उनकी असफलताओं के बारे में और उन सबकों के बारे में जो एक पुलिस वाला होने के नाते इन्हें सीखने को मिले। इस क़िताब का उद्देश्य इस आशा से उनके तजुर्बाँ को पाठकों के साथ बांटना होगा कि जीवन को बेहतर करने के लिए कुछ मदद मिल सके। ये सच्चाई की खोज के बारे में होगा। एलडस हक्सली कहते हैं ‘तजुर्बाँ वो नहीं जो आपके साथ होता है; घटनाओं के साथ आप क्या करते हैं, ये तजुर्बाँ है।’

आम तौर पर तो मेरा वास्ता आत्मोन्नति के विषय पर लिखी किताबों से होता है, पर मुझे लगा इस किताब में भी एक अच्छी कहानी है। एक पुलिस वाला जो खतरों से खेलता आया हो, और जिसके सिर पर सदा मौत का साया हो; किसी कहानी को रोचक बनाने के लिए और क्या चाहिए? खान साहब जांबाज़ी के लिए मशहूर थे और उनके बारे में यह भी प्रसिद्ध था कि वो कोई आरामपरस्त योद्धा नहीं थे बल्कि शेर की गुफ़ा में घुसकर उसका शिकार करते थे। ये तो तय था कि किताब की रफ़्तार तेज़ और कहानी रोमांचक होगी।

चुनौती ये थी कि किताब को आज के दौर के लिए ही नहीं बल्कि हर दौर के लिए उपयुक्त कैसे बनाया जाए? ज़ाहिर है पुलिस वालों की ज़िन्दगी से हमें बहुत कुछ सीखने को मिल सकता है। अधिकांश लोग मान लेते हैं कि दिन भर के काम के बाद रात का खाना घर पर ही होगा, पर पुलिस के पेशे में ऐसा मान लेना घातक हो सकता है। अगर हम अपने काम में तनाव महसूस करते हैं तो सोचिये पुलिस की क्या हालत होती होगी, ख़ास तौर से जब उन्हें जान-लेवा परिस्थितियों का सामना करना पड़ता होगा, किसी निजी स्वार्थ से नहीं बल्कि आम जनता के हित के लिए। और इसका प्रतिफल उनको क्या मिलता है? पुलिस के पेशे को समझने के लिए श्रुन्यु सुज़ूकी के ये शब्द शायद पर्याप्त होंगे 'ज़िन्दगी उस नाव पर चढ़ने जैसी है जो समुन्दर में जाकर डूबने वाली हो।'

तो चलिए खान साहब और उनकी टीम के साथ उन अँधेरी खौफ़नाक गलियारों में, उनके जीत का जश्न उनके साथ मनाइये, और उनकी नाकामियों में उनका हौसला अफज़ाई कीजिये। किताब पढ़कर आप ईश्वर का शुक़्रिया करेंगे कि हर शाम आप अपने प्रियजनों के पास सुरक्षित घर पहुँचते हैं। हम ये आशा करते हैं कि ये किताब आपको पुलिस वालों की याद ज़रूर दिलाएगी।

गौतम सचदेवा
नवम्बर 2004

आभार

मेरी पत्नी माहज़बीन की सहायता के बिना ये किताब असम्भव थी। लिखने की क्षमता पर मुझसे कहीं ज़्यादा उनको विश्वास था। मेरे दोस्त गौतम का मैं आभारी हूँ जिसने किताब को रूप दिया और उसे साकार बनाया। शैलजा की लेखन कला और ग्रेगरी के सम्पादन ने इसे पढ़ने लायक बना दिया, और मैं इनका भी आभारी हूँ।

मेरी सबसे बड़ी प्रेरणा शायद मेरे बेटे मंसूर और ज़हीर, बेटी अलीशा और पोता मिखाइल थे, जिनके लिए मैं कुछ ऐसा लिखना चाह रहा था जिसे बार-बार पढ़कर वो गर्व और प्यार से मुझे याद करें।

मैं अहसानमंद हूँ पुलिस कमिश्नर एस. रामामूर्ति और एस.के. बापट का, जिनके नेतृत्व और मार्गदर्शन से मैंने अपनी क्षमता से कहीं अधिक बढ़ कर काम किया।

ड्रामा आधी रात का



मैं अभी सोया ही था कि फ़ोन की घंटी बजने लगी। देर रात की पार्टी के बाद दिमाग में धुंधलापन सा छाया था। मैंने बैड-लैंप जलाया और रिसीवर उठाया। ‘इज़ इट खान?’ ‘हाँ’ बोलते ही मैंने मुंबई के नव-नियुक्त पुलिस कमिश्नर की आवाज़ पहचान ली।

‘खान, बेहरामपाडा में दंगे शुरू हो गए हैं। ये स्थानीय पुलिस के बस के बाहर लगता है। क्या तुम अभी के अभी वहां जा सकते हो?’

नहीं! मेरा शरीर भन्नाया। महाराष्ट्र स्टेट रिज़र्व पुलिस फोर्स में इंस्पेक्टर जनरल के पद पर मेरी पदोन्नति होने का जश्न अभी खत्म भी नहीं हुआ था! मैं तो सपने देख रहा था, थोड़ी आजादी, थोड़ा टेनिस, थोड़ी नींद.....पर ये क्या हो गया ?

एडिशनल कमिश्नर ऑफ़ पुलिस (उत्तर मुंबई) के पद की कमरतोड़, 24 घंटे प्रति दिन वाली दिनचर्या से शायद मुझे छुटकारा मिलना चाहिए था; नए पद के कामकाज सीखने के लिए, फाइलों से जूझने के लिए समय मिलना चाहिए था। पर कभी न सोनेवाले इस महानगर में पुलिस को वर्दी उतारने का भी वक़्त कहाँ मिलता है! मैंने नए कमिश्नर को वचन दिया था कि जब भी उन्हें ज़रूरत पड़ेगी, मैं हाज़िर हूँगा। फिर भी, मेरी आत्मा से आवाज़ ज़रूर निकली, ‘मैं ही क्यों?’ मेरे ही रैंक के चार और

अफ़सर थे जिन्हें भेजा जा सकता था। मैं नशे में ज़रूर था, पर साथ ही मुझे अपने फ़र्ज़ और ज़िम्मेदारी का अहसास हो रहा था। 'मैं तुरंत पहुंचता हूँ' मैंने कहा।

जब आप सो ही नहीं पाते तभी ज़िंदगी शुरू होती है।

फ़्रां लेबोवित्ज़

2 फरवरी 1993 की प्रातःकाल थी। दो महीनों से महानगर के दो प्रमुख समुदायों के बीच तनाव जारी था। कुछ घंटे पहले ही मैं निश्चित होकर सोच रहा था कि मेरा सामना अब उपद्रवी दंगाइयों से नहीं होगा, न ही उन्हें रोकने के लिए टियर गैस या गोलीबारी करनी पड़ेगी। सब-इंस्पेक्टर तेज़ी से जीप दौड़ा रहा था। मैंने शीशा उतारा ताकि ठंडी हवा में दिमाग और साफ़ हो जाए। पीछे गाड़ी में पांच सशस्त्र पुलिस वाले बैठे थे, बाहर की तरफ़ मुँह किये हुए (ब्रिटिश आर्मी की प्रथा थी जब वो आई.आर.ए. से लड़ते थे)। खुली छत वाली जीप में आदमियों को इस तरह तैनात करने से उनको साफ़ दिखता है कि आस-पास क्या हो रहा है। तेज़ी से जवाबी हमला करना भी आसान होता है।

जब हम दंगाग्रस्त क्षेत्र के पुलिस स्टेशन पर पहुंचे, वहां डिप्टी कमिश्नर और उनके अफ़सर अभी जूझ ही रहे थे कि हालात पर कैसे काबू पाया जाय। उत्तेज़ित हाउसिंग बोर्ड कॉलोनी में रहने वाले और पास के झोपड़पट्टी के निवासी आपस में पत्थरबाजी और जलते चीथड़े बरसा रहे थे। जब वरिष्ठ अफ़सर और उनके साथी, बजाय मैदान में उतरने के, सहायता की मांग करें, इसके दो ही मतलब निकलते हैं — या तो वे डर गए या जनता के साथ ताल-मेल नहीं है, इसलिए उनका सामना करने की हिम्मत नहीं जुटा पा रहे हैं।

पुलिस स्टेशन में नगर निगम के स्थानीय कॉर्पोरेटर मौजूद थे; उन्होंने

मुझे पहचाना और स्वागत किया। 'झोपड़पट्टी की जनता बहुत उतेज़ित है और बिल्डिंग वालों से डरी हुई है।' झोपड़पट्टी के पास छः और सात मालों की बिल्डिंग थीं, जिनकी छतों से पथराव चल रहा था और यही कारण था कि वे अपने आप को असुरक्षित पा रहे थे।

मैंने कहा, 'अन्दर चलकर देखें?' उसने कहा 'हाँ, पर सिर्फ आप ही आइये।' मैं इस इलाके को जानता था क्योंकि यह कभी मेरा अधिकार क्षेत्र था। दंगे शुरू होने के बाद भी यहाँ मैं आया करता था और जगह की मुझे पहचान थी। अन्दर की कई गलियाँ, उनके पास बहते हुए नालों से भी तंग हैं। वहाँ गाड़ी लेकर जाना असंभव है। ऐसी जगह से जब मार-काट की खबर आती है तो एक दिलेर अफ़सर भी वहाँ जाने से हिचकता है और सोचता है 'क्यों मैं अपनी जान खतरे में डालूँ?' यहाँ प्रवेश होने के बाद आपके साथ कुछ भी हो सकता है — बदमाश आपको घेरकर आप पर आसानी से वार कर सकते हैं। मौजूदा हालात में, सच पूछिए तो, ऐसी जगह खतरनाक थी। यह मैं ख़ूब समझता था।

मेरे कार्यकाल के दौरान मैं इलाके के ताने-बाने से वाकिफ़ था और यहाँ के कुछ लोग मुझे पहचानते भी थे। रास्ते में मुझे वायरलेस से यहाँ के हालात की गम्भीरता का अंदाज़ा तो हो ही गया था। ऐसे समय में मुस्तैद रहना और पहले से ही कुछ तैयारी कर लेना उचित रहता है। साथ ही मुझे यह भी एहसास था कि संवेदनशील इलाके में पारंपरिक रणनीति प्रभावशाली नहीं हो सकती। यह सोचकर मैंने रणनीति बनानी भी शुरू भी कर दी थी। पर इस रणनीति में मेरे छः अफ़सर भी शामिल थे। मुझे अकेले जाना पड़ेगा, यह मैंने सोचा ही नहीं।

ज़ाहिर था कि निवासियों का वर्दी वालों पर से विश्वास उठ चुका था वर्ना अभी तक दंगे ख़तम हो चुके होते। उनके शिकवे जायज़ थे क्योंकि अभी तक छतों से हमलावरों को हटाया नहीं गया था। मैंने यह भी देखा कि अपने बचाव के लिए निवासी झोपड़पट्टी के काले गेट के भीतर ही

कैद थे। किसी ने इलाके की बिजली भी काट दी थी। मेरी गलती थी कि मैंने इसके बारे में सोचा नहीं था और मेरे हाथ में टार्च भी नहीं थी। आप जितनी भी तैयारी कर लें, ज़िन्दगी हर क़दम आपको हैरान कर ही देती है।

अँधेरा और सन्नाटा, या तो सहायक दोस्त हो सकते हैं या जानी दुश्मन। इस वक़्त अँधेरा हमारे भीतर के डरों को जगाने का काम कर रहा था। चारों तरफ़ मानो बेचैनी की चादर सी फैली हुई थी। गेट के एक तरफ़ जहाँ छतें खूँखार दंगाइयों से भरी हुई थीं; वहीं दूसरी तरफ़ लाठी, सरिये और हॉकी से लैस निवासी थे। दंगाइयों का प्रिय हथियार — मोलोटोव कॉकटेल था — पेट्रोल से भरी बोतलें, जिनमें जलाने और विस्फ़ोट के लिए बत्ती डाली जाती है। स्थिति गंभीर थी और बिना दोबारा सोचे मैंने तय किया कि मैं कॉर्पोरेटर और उसके दो आदमियों के साथ अन्दर जाकर स्थिति को सँभालने की कोशिश करूँगा।

क्या आपने कभी अपने आप को घोर अँधेरे में किसी भूल-भूलैयाँ में खोया हुआ पाया है? जहाँ अपनी आहट आपको डरा दे? जहाँ चारों ओर परछाइयों के सुलगते क्रोध का एहसास तो आप कर सकते हो पर कुछ दिखाई न दे? ऐसे ही हालातों का मैं कई बार सामना कर चुका था पर दिन की रौशनी में। इधर इस घोर अँधेरी रात में, यदि कहीं कॉर्पोरेटर और उनके आदमी अचानक मुझसे बिछड़ जाते, मैं शायद ही बाहर निकल पाता।

रात के 3 बजे, इस दंगा ग्रस्त इलाके के बीच मैं समझने की कोशिश कर रहा हूँ कि आम आदमी (या इसे सामूहिक चेतना कहिये) कैसे इतना उत्तेज़ित हो सकता है कि वो अपने और अपनों की जान खतरे में डाल दे?

हम दुश्मन से मिल चुके हैं, और वह हम ही हैं।

वाल्ट केली

मैं आधे घंटे तक उन सुनसान अँधेरी गलियों में घूमता रहा, कॉर्पोरेटर के साथियों की रौशनी के सहारे; निवासियों के मन में सुलगती उस लाचारी, आक्रोश, अविश्वास और नफ़रत को समझने की कोशिश करते-करते। अचानक आवाज़ सुनाई दी 'खान साहब आ गए।' मेरे सामने कुछ आधे दर्जन लोग खड़े थे। वे बहुत गुस्से में थे और यदि मैं अपने वर्दी वाले अफ़सरों के साथ यहाँ आया होता तो ये हम पर टूट पड़ते और बाहर बिल्डिंग पर हमला बोल देते।

ऐसी परिस्थिति में ज़रूरी था कि तनाव को जल्द से जल्द कम किया जाय हालाँकि इसमें खतरा ज़रूर था। इसीलिए मैंने अकेले जाने का फैसला लिया था। विनम्रता से मैंने उनसे आग्रह किया कि शांत होकर वे घर लौटें और कानून को अपने हाथ में नहीं लें। उनके घावों पर मरहम लगाते हुए मैंने उन्हें आश्वासन दिया कि उन पर पथराव करने वालों को मैं सज़ा ज़रूर दिलवाऊंगा। कॉलोनी की तंग गलियों में जहाँ खतरा ज़रूर था, कुछ फायदे भी थे; यहाँ लोगों के बीच रहकर, उनके कंधे से कन्धा मिलाकर, आप उनसे एक क़रीबी रिश्ता बना सकते हैं।

शायद इसी नज़दीकी के कारण कुछ लोगों ने मुझ पर विश्वास किया कि मैं उन्हें इन्साफ़ दिलाऊंगा। हमें मालूम था कि यहाँ ज़्यादातर लोग अनपढ़ हैं, कई किस्म के धंधे करते हैं और कानून की इज़्जत तो शायद ही करते हैं। फिर भी, उन पर हो रहे हमलों को जायज़ तो नहीं बताया जा सकता।

साम्प्रदायिक दुश्मनी को रातों-रात नहीं सुलझाया जा सकता; क्योंकि घाव गहरे होते हैं और ज़ख़्म भरने में समय लगता है। दंगे-फसाद जहाँ विद्यार्थी या मजदूर वर्ग को लेकर हो, वहाँ नरमी से पेश आना ज़रूरी होता है। पर ऐसे विचार वहाँ उचित नहीं जहाँ सांप्रदायिक दंगे चल रहे हों। ऐसी स्थिति में आपको पुलिस स्टेशन में सिखाये गए कायदे और प्रशिक्षण बिल्कुल काम नहीं आते। खून पर उतारू झुण्ड को आप धारा 144 नहीं पढ़ा सकते!

ऐसी कठिन परिस्थिति से निपटने के लिए पुलिस लाठी-चार्ज का सहारा ले सकती है। जब इससे काम न चले तो टियर-गैस का प्रयोग कर सकती है। जब इससे भी भीड़ काबू में ना आये तो गोली चला सकती है, वो भी कमर के नीचे।

हर सांप्रदायिक दंगे में एक पक्ष का पलड़ा भारी होता है। यहाँ भी छत पर से हमला करने वालों का पलड़ा भारी था। दंगे बंद करने के लिए उनको रोकना ज़रूरी था; अभी और इसी वक़्त !

मैंने जब झोपड़पट्टी निवासियों को आश्वासन दिया कि हमलावरों को मैं ख़ुद रोकूंगा, तब उन्हें कुछ तसल्ली मिली और उन्होंने मान लिया कि वे जवाबी हमला नहीं करेंगे।

पुलिस स्टेशन पहुँचते ही छतों पर से हमला करने वालों को हटाने के लिए मैंने पुलिस का एक दल रवाना कर दिया। कानून के रक्षक और भक्षक के बीच मुठभेड़ स्वाभाविक होती है, ये हर पुलिसवाला जानता है और हुआ भी कुछ ऐसा ही। पर हम अंत में, 6:30 बजे, उपद्रवियों को हटाकर, अमन कायम करने में कामयाब हो ही गए। मुझ पर इल्ज़ाम ज़रूर था कि मैंने लोगों के साथ (जो जलती मशालों, पत्थर, इत्यादि से लैस थे) अनुचित व्यवहार किया; पर यह तो होना ही था। हर जंग में एक पक्ष को लगता है कि उनके साथ न्याय नहीं हुआ।

जहाँ एक ओर आपको दंगों से निपटने का अधिकार मिला हो और दूसरी तरफ़ लोगों की रक्षा का दायित्व, ऐसी स्थिति चुनौतीपूर्ण होती है, जैसे वो रात। एक निष्क्रिय ज्वालामुखी की तरह। यदि सही समय पर सही निर्णय नहीं लिया, तो ज्वालामुखी फट सकता है। उस वक़्त ख़ुद पर विश्वास होना ज़रूरी है; चुनौती का सामना करने के लिए आपको मन और तन से मज़बूत होना ज़रूरी है। भाग्यवश, मुझे ख़ुद पर हमेशा से विश्वास था। साथ ही उन लोगों का विश्वास, जो मैं जीत पाया, मेरे पक्ष में काम आया। जब आप किसी उत्तेज़ित गुट को समझाने में सफल होते

हैं कि आप उनके साथ हो तो वो आपको शान्ति से सुनेंगे और आपकी बात मानेंगे।

मुझे यह भी भरोसा था कि यदि हिंसा बेकाबू हो जाये, तो मेरी पुलिस की टीम मेरे साथ है। जब हालात गंभीर हों और आप अपने साथियों से बोलते 'मैं जा रहा हूँ, ज़रूरत पड़े तो आ जाना'; वो कभी भी आपका साथ नहीं छोड़ेंगे, ये मेरा विश्वास है। तरक्की की सीढ़ियाँ चढ़ते-चढ़ते मुझे ये तजुर्बा हो गया था कि असफलता का कारण अक्सर नेतृत्व का अभाव होता है। चाय की चुस्की लेते हुए आप अपनी टीम को रिमोट से नहीं चला सकते; पर यदि उन्हें यह एहसास हो जाए कि जोखिम में आप भी उनके साथ हैं, तो वो आपका आदेश ज़रूर मानेंगे।

पर याद रहे, बहुत ज़्यादा विश्वास भी कभी आपको मुश्किल में डाल सकता है! जब आप लीडर होते हैं तो थोड़ा तो रुआब जमाना ज़रूरी होता है। पर ये आपको इस भ्रम में भी डाल सकता है कि आप कभी चूक ही नहीं सकते। पुलिस के व्यवसाय में ऐसी धारणा घातक सिद्ध हो सकती है। एक बार की बात है। मुजरिमों का पीछा करते-करते मैं दो छतों के बीच लगी लकड़ी की पट्टी पर भाग पड़ा। अगले दिन, टेलीविजन वालों ने जब मुझसे कहा कि मैं फिर से एक बार वो 'करतब' दिखाऊँ; उस समय एहसास हुआ कि मैं तैश में आकर कितना जोखिम और बेवकूफी वाला काम कर बैठा।

किसी भी क्षेत्र में लीडर को सफल होने के लिए निपुणता और आज के दौर में, राजनेताओं से मधुर सम्बन्ध होना भी आवश्यक है। कभी आपका विश्वास और क्राबलियत आपके वरिष्ठ अफ़सर को या किसी नेता की आँखों में खटक जाए, तो आप मुसीबत में पड़ सकते हैं। पर मेरे लिए तो सिर्फ़ जनता और मेरे साथियों का विश्वास ही मायने रखता है।

सुबह के 6:30 बज गए थे जब हमारी ये लम्बी रात समाप्त हुई। हमारे दिलों में जो संतुष्टि की लाली थी उसके सामने मुंबई के आसमान

पर छा रही लाली फीकी लगी। बच्चे, बूढ़े और तनाव ग्रस्त निवासियों के चेहरों पर अब चिंता नहीं थी। सही वक़्त पर कार्रवाई किये जाने के कारण बहुत बड़ा हत्याकांड टल गया। बुराई पर अच्छाई की जीत फिर हुई।

जब ये देर रात्रि का ड्रामा शुरू हुआ था, मैं पार्टी के नशे में चूर था और सच कहूँ तो गुस्से में था कि मुझे अपना मखमली बिस्तर छोड़कर इस फसाद के बीच क्यों जाना पड़ रहा है! पर अब मुझे लगा कि इसके सिवाय मैं और कुछ भी तो नहीं कर सकता था।

चाही कलम, उठाई बंदूक



मैंने सपने में भी नहीं सोचा था कि मैं पुलिस अफ़सर बनूँगा। मैं तो लेखक बनना चाहता था। कॉलेज में, जब इंग्लिश लिटरेचर की पढ़ाई कर रहा था, मैं अपने प्रोफेसर को गुरु मानता था; क़िताबें घोटकर पी जाता था और शब्दों के साथ ख़ूब प्रयोग करता था। जब भी अपने प्रोफेसर, जो मेरे हीरो थे, की बुलंद आवाज़ में शेक्सपियर की वे अमर पंक्तियाँ सुनता, मुझे यकीन हो जाता कि किसी दिन मैं भी आधुनिक अंग्रेजी के किसी पहलु पर शोध करूँगा, विदेश जाऊँगा – पढ़ने और पढ़ाने; और लिखूँगा भी ज़रूर।

आम लोगों से मिलना और बात करना मुझे बेहद पसंद था; जैसे कैम्पस कैटीन का छोट्टू, वो गली का चाय वाला, हमेशा मुस्कुराते हुए जूते चमकाने वाला वो लड़का, और हमारी बाई जो रोज मेरे घर पहुँचने से पहले मेरा कमरा रहने लायक बनाती। मैं जानना चाहता था कि ये और इनके जैसे तमाम लोग जो अपनी सेवा, लगन और मेहनत से हमारी ज़िन्दगी बेहतर बनाते हैं, शक्ति कहाँ से पाते हैं? जीने की क्या प्रेरणा होती होगी ऐसे लोगों की?

ताज्जुब की बात थी कि यही शौक मेरी पहली कमाई का कारण भी बना। उन्ही दिनों हमारे कॉलेज कैम्पस में एक नये अखबार के कुछ लोग फ्रीलान्सर्स को ढूँढते-ढूँढते आ पहुँचे और मैंने उन्हें उन बेनाम लोगों के बारे

में बताया जिनके बारे में मैं लिखना चाहता था। पब्लिशर को आईडिया पसंद आया; शायद इसलिए भी कि कम से कम खर्चे में हफ्ते में तीन बार लिखने को शायद ही कोई तैयार होता। इस तरह मैं बन गया पार्ट-टाइम जर्नलिस्ट और मेरे प्रोफेसर साहब को यकीन हो गया कि मैं लेखक बनने के रास्ते पर चल पड़ा हूँ।

मेरी माताजी मेरे लिए कुछ और ही सपने देख रही थीं जिसकी खबर न प्रोफेसर साहब को थी और न ही मुझे। मेरी माँ खास थीं; यूँ तो दुनिया के हर बच्चे के लिए उसकी माँ खास ही होती है; पर जिस तरह माँ अपना हर काम साध लेती थीं, उनकी यही खासियत थी। एक बार मैं और मेरे कुछ साथी गर्ल्स हॉस्टल की छत पर चढ़ गए और अपनी कमीज़ को झंडा बनाकर फ़हराने लगे। पकड़े जाने पर प्रिंसिपल साहब ने हमें सस्पेंशन की धमकी दी। माँ से मैंने अपना गुनाह कुबूल किया क्योंकि पिताजी के पास जाना तो मैं सोच भी नहीं सकता।

खैर, हुआ यह कि माताजी प्रिंसिपल से मिलने चली गईं। न जाने क्या बात हुई कि प्रिंसिपल साहब ने हमें माफ़ी दे दी। माँ ने न बहस की और न ही स्वर ऊँचा किया। शायद प्रिंसिपल साहब को उनके बचपन की याद दिलाकर समझाया होगा कि उस उम्र में बच्चे शरारती होते ही हैं। प्रिंसिपल साहब ने हमसे दो बातें कहीं, हमने भी माफ़ी मांगी और आश्वासन दिया कि ऐसी हरकत दोबारा नहीं होगी।

माँ पक्की 'अंग्रेजी' पृष्ठभूमि में पली-बड़ी हुई; उनके दादा जहाँ अपने नाम के आगे अंग्रेज़ों की उपाधि लिए हुए थे, उनके पिता सेशन कोर्ट के जज थे। शायद कम शब्दों से अधिक से अधिक हासिल करने की उनकी क्षमता इसी परिवार के कारण हुई होगी। हम सात बच्चों को सँभालने में कभी उन्हें गुस्सा आया हो, ऐसा मुझे याद नहीं। पर एक बात ज़रूर याद है कि उनकी एक डांट हम सब को चुप कराने के लिए काफी थी और उन्हें मनाने का हम हर यत्न करते थे।

शायद यही गुण बाद में मेरे काम आये जब मुझे पुलिस वालों की गलतियों से निपटना पड़ता था और अपने गुस्से पर काबू रखना पड़ता था। हमारे अनुभव हम पर अभिष्ट छाप छोड़ जाते हैं; वो सब जो हमने कभी कहा, सुना, किया; वो अच्छे-बुरे लोग, सब कुछ हमारे भीतर के किसी तहखाने में ही बसते हैं, इस इंतज़ार में कि कब हम उन्हें पुकारें; और ऐसा करते ही अतीत से छलांग लगाते हुए हमारे वर्तमान में प्रकट हो जाते हैं। ये अनुभव कभी हमारे लिए मददगार साबित होते हैं जैसे मेरे साथ हुआ; या कभी हमारे लक्ष्य हासिल करने में बाधा बन जाते हैं।

अब समझे कि मैं लेखक बनते-बनते कैसे एक पुलिस अफ़सर बन गया? जी हाँ, मेरी माँ के कारण।

दुनिया में एक ही शख्स है जिनका कहा मैं टाल नहीं सकता हूँ और वो है मेरी माँ। माँ ठान चुकी थीं कि मैं 'आल इंडिया सर्विसेस एग्ज़ामिनेशन' में भाग लूँ। मैंने हमेशा उनका कहना माना और अब भी उनकी आज्ञा का पालन करना चाहता था। पर भीतर कशमकश चल रही थी। बेमन से एग्ज़ाम दिए और हैरान हुआ जब सफल हो गया। तब लगा कि ज़िन्दगी में कुछ ऐसी घटनाएं होती हैं जिन पर हमारा कोई बस नहीं चलता। किसी मास्टर प्लान के तहत हमें किसी राह पर धकेला जाता है; किसी इन्सान को ज़रिया बना कर, जैसे मेरी माँ।

जब तक आप अपने आप से लड़ते हैं, आप अपने आप को कहीं फँसा हुआ पाते हैं और लक्ष्य नज़र नहीं आता। पर जब इन बाधाओं से मुक्त होकर सोचने लगते हैं तो आपके सामने लक्ष्य और संभावनाएं दोनों साफ़ नज़र आने लगती हैं। एक नए जोश का एहसास होने लगता है और आप में उत्सुकता होने लगती है उस नयी दिशा में चलने की; और जब आप उस नए लक्ष्य को अपना सब कुछ देते हैं तो बदले में वो भी आप को बहुत कुछ दे जाता है। हाँ, समय ज़रूर लगा, मुझे ये सब समझने में पर जब समझ आ गया तो मुझे रूहानी खुशी महसूस होने लगी।

किसी कमज़ोर इन्सान की मदद करना, दलितों का मसीहा बनना — शायद ये विचार बचपन से ही मुझे प्रभावित करते थे। मैंने माँ को हमेशा ही नौकरों से नम्रता से पेश आते देखा। शायद मुझ में भी ये जागरूकता थी कि अमीर आदमी पैसों के बल से किसी भी समस्या का समाधान कर सकता है पर गरीब की मदद के लिए कोई नहीं होता। मुट्टी भर गुंडे शहर-भर को आतंकित कर सकते हैं। सुनसान सड़क पर चलने वाली एक लड़की को चंद सड़क-छाप रोमियो परेशान कर सकते हैं और वो मदद के लिए किसी के दरवाज़े पर दस्तक देते हुए हिचकिचाएगी। मैंने लिखना भी इन्हीं लोगों पर शुरू किया था; और जब पब्लिक सर्विसेस इन्स्टिट्यूट में पास हुआ, मैंने पुलिस फ़ोर्स का चयन किया। कहना पड़ेगा कि पुलिस वर्दी की ताकत और रूआब, दोनों ही मुझे भाते थे।

मेरी पुलिस वालों से पहली मुलाकात तो शायद मैं भुला देना चाहूँगा। कॉलेज के दिनों की बात थी जब मैं और मेरे दो दोस्त, सड़कों पर बेपरवाह साइकिल चलाते हुए पकड़े गए। पुलिस सब-इंस्पेक्टर साहब ने धमकी दी कि हमें वो जेल में डाल देंगे; हमें छुड़वाने माता-पिता को बुलवाया गया। हमारे तो होश उड़ गए और अब, मैं ख़ुद पुलिस अफ़सर बनने जा रहा था!

मेरे लिखने-पढ़ने के बड़े सपनों को मैं भुला ही चुका था। हाँ, प्रोफेसर साहब से आखिरी बार जब मिलने गया, तब वे निराश होकर बोले ‘चंद सलाम के लिए तुमने लेखक बनने का सपना छोड़ दिया?’ उनकी नज़रों में शायद मैं अपने आदर्श से भटक गया था। उनकी निराशा जायज़ थी पर लेखन की दुनिया अन्य दुनिया से भिन्न नहीं है, ये मैं जानता था। लाखों लेखक लायक होने के बावजूद नाकामयाब रहते हैं और छोटी मोटी नौकरी के सहारे जीवन व्यतीत करते हैं; और उनसे कहीं कम काबिल लेखक मशहूर हो जाते हैं। मुझे यकीन हो गया था कि मेरे अन्दर एक ‘क्रिया प्रधान’ मानव है जो सिर्फ लिखना नहीं, करना चाहता है।

आज मुझे लगता है कि सफलता इस पर निर्भर नहीं करती कि आप

क्या करते हो; पर इस पर निर्भर करती है कि आप कितना अच्छा करते हो उपलब्धियाँ या नाकामियाँ उतनी मायने नहीं रखती जितना आपके अन्दर का एहसास; कि आप खुद के प्रति कितना ईमानदार रहे हो, जन्म और हालात ने जो मौके दिए, उनके साथ क्या किया आपने? उस दिन प्रोफेसर साहब को काश यह बता पाता, पर तब मेरी उम्र कच्ची थी। तब भी मुझे इतना पता था कि जीवन ने जो नयी चुनौती मेरे सामने रखी है, उसे स्वीकार कर मुझे बखूबी निभाना होगा।

*अपने भाग्य को हम चुन नहीं सकते; पर कैसे
निभाते हैं वो हमारे हाथ में है।*

दाग हम्मास्वर्जोल्ड

माँ की ममता से भरी बेफ़िक्री के उन दिनों के बाद, नेशनल पुलिस अकादमी दूसरी ही दुनिया थी। मेरे शहर से मैं ही अकेला व्यक्ति था। हममे से कुछ लोग ऐसे थे जिनके पुलिस या राजनेताओं से सम्बन्ध थे; इन लोगों से 'नरम' बर्ताव किया जाता था। हम लोगों से तो 24 घंटे कमर-तोड़ काम करवाया जाता था।

पहले कई बार अपने दोस्तों के साथ छुट्टियाँ बिताने घर से दूर ज़रूर जाता पर ये पहली ही बार था कि मुझे अपने परिवार और घर से दूर रहना पड़ रहा था। इन अजनबी वादियों में मुझे अकेलापन बहुत खलता था पर मैं अकेला नहीं था और समय के साथ मैंने इस अकेलेपन से निपटने के रास्ते ढूँढ ही लिए। अपने बिखरे आत्मसम्मान को फिर से जोड़ने में आखिर मैं कामयाब हो ही गया।

हमारे दिन की शुरुआत, सुबह-सवेरे तीन घंटों के व्यायाम से होती थी। शारीरिक परिश्रम हम सब पर भारी पड़ता था क्योंकि इसकी आदत ही नहीं थी। हाँ, कभी-कभार स्कूल और कॉलेज में कुछ खेल ज़रूर लेता

था। क्लास रूम की पढाई इतनी खलती नहीं थी। दो साल की ट्रेनिंग ऐसी ही रही, अलग-अलग ट्रेनिंग केंद्र में। सोचो तो ये सब हमारे अच्छे के लिए ही था, क्योंकि प्रशिक्षण ने हमें मज़बूत बना दिया। कुछ प्रशिक्षकों का बर्ताव मुझे खराब ज़रूर लगा। उनमें से एक तो खड्डूस था, जो बीमार लड़कों को भी गालियाँ देकर उनसे विशाल ग्राउंड के दो-दो चक्कर लगवाता! आप चाहे कितने वरिष्ठ या ताकतवर हों, क्या इस तरह किसी से व्यवहार करना उचित है?

मेरा खून तो तब खौलता था जब ये प्रशिक्षक वी.आई.पी. लड़कों के साथ बहुत ही प्रेम से बर्ताव करते और उनकी गलतियों को नज़रअंदाज़ कर देते। ज़िन्दगी के खेल कभी कितने अनुचित होते हैं इसका मुझे अहसास होने लगा। पर मैंने तो ऐसी जिंदगी को ही अपनाया है जिसमें जहां अच्छाई है, वहीं बुराई भी है। यही सोचकर मैं अपने लक्ष्य पर डटा रहा कि एक दिन मैं न्याय का पक्ष ज़रूर लूँगा।

क्या आपने कभी अपनी क्षमता से अधिक काम करने का प्रयास किया है? मुझे करना पड़ा, मेरे प्रोबेशन के दौरान। महाराष्ट्र के एक बड़े ज़िले के दो उप-मंडलों का दायित्व मुझे सौंपा गया — बतौर उप-निरीक्षक। यह मेरी पहली पोस्टिंग थी और मैं अपने को सफल सिद्ध करने को आतुर था। छह महीने के भीतर ही घरेलू समस्याओं के कारण, ऑफिस इन चार्ज की, दूसरे उप-मंडल में पोस्टिंग हो गयी। इस तरह दोनों उप-मंडलों का मैं इंचार्ज बन गया। इसके तुरंत बाद मेरे बॉस भी लम्बी छुट्टी पर चले गए और मैं पूरे ज़िले का निरीक्षक बन गया।

मन में घबराहट होने लगी। सोचा 'क्या मैं यह दायित्व निभा पाऊँगा?' डर ज़्यादा देर नहीं रहा, न ही मैं इससे भाग खड़ा हुआ। मैंने भी ठान लिया कि मुझसे जितना बन पड़े, मैं ज़रूर करूँगा। उसी समय वहां दंगे छिड़ गए, जिन्हें मैंने अपने ही तरीके से सुलझाया और सफल रहा। दो हफ्तों में दंगे थम गए... और अगले दो महीने मैं ज़िले का निरीक्षक बना रहा।

इस बात से मुझे बेहद खुशी हुई कि मेरे सीनियर्स ने मुझे इस ज़िम्मेदारी के लिए उचित समझा और मैं भी उनकी उम्मीदों पर खरा उतरा! अक्सर ऐसा होता है कि डर आपके मनोबल को तोड़ देता है और आपको अपने पर से ही विश्वास उठ जाता है। यदि इस डर पर आप काबू कर लेते हैं और आत्मविश्वास के साथ काम करते हैं तो निश्चित ही जीत आपकी होगी।

खुली जीप में ज़िले की सड़क-सड़क और गली-गली छानते-छानते मैंने यह भी जाना कि कड़ी मेहनत कभी भी व्यर्थ नहीं होती। काम में सफल होने के ज़ज्बे से आप मेहनत करते हैं तो कड़ी धूप से भी सरदर्द नहीं होता न ही धूल-मिट्टी से एलर्जी। देखते ही देखते तक्रदीर ने मुझे माँ के ममता भरे आँचल से निकाल चुनौतियों से भरे मैदान में लाकर खड़ा कर दिया। सोचता हूँ कि जब उसने मुझे एग्जाम देने पर मजबूर किया था तब माँ को मेरी क्षमता का पता था। मैंने उससे कभी पूछा नहीं, पर आभारी हूँ उनका।

जहाँ मेरी इस कार्य-काल की शुरुआत सफल रही, वहीं कुछ अप्रिय घटनाएँ भी थी। शहर के औद्योगिक क्षेत्र में कामगार हड़ताल पर थे। इन्हीं दिनों एक मंत्री महोदय दौरे पर आये और मजदूरों से मिलने की ज़िद की। मुझे लगा हालात ठीक नहीं थे इसलिए मैंने उनसे आग्रह किया कि वे उनके ज़्यादा करीब नहीं जाएँ। पर वे मेरी बात नहीं माने, उन्हें तो अपनी शान जतानी थी। हुआ ये कि कुछ मजदूरों ने बंदोबस्त तोड़ दिया और उनको घेर लिया। मंत्री महोदय बहुत नाराज़ हुए।

पुलिस का कायदा था कि जहाँ छात्र या मजदूर हों, वहाँ ज़रूरत से ज़्यादा बल का प्रयोग नहीं करना चाहिए। पर मंत्री महोदय को इससे क्या? वो तो अपने-आप को इन सब से ऊंचा मानते थे। दौरे से लौटते ही उन्होंने मेरे निरीक्षक से मेरी शिकायत कर दी और निरीक्षक भी मुझ पर बरस पड़े। उन्हें ये पसंद नहीं था कि उनका कोई जूनियर अफ़सर

उनका कहा नहीं मानता। फिर क्या; आपस में हमारी खूब चिड़्डी-बाज़ी हुई जिससे मैं भी परेशान हुआ। आखिर मुझे समझ आया कि वक्त से पहले अपने सीनियर से भिड़ना उचित नहीं है। उनके विचार भले ही आप से भिन्न हों, उनसे उलझना ठीक नहीं है। जब तक आप समझते हैं कि जो भी आपने किया, कायदे के दायरे में ही था, किसी और को सिध्द करने की ज़रूरत नहीं है।

एक और वाक्या हुआ जब मुंबई के निकट मैं निरीक्षक के पद पर था। मैंने अपने डी.आई.जी. की शिकायत की कि उन्होंने मेरे पद की गरिमा को नहीं रखा। उन्होंने मुझ पर आरोप लगाया कि मैंने उनकी आज्ञा भंग की। इंस्पेक्टर और सब-इंस्पेक्टर की पोस्टिंग, निरीक्षक का अधिकार क्षेत्र होता है, और डी.आई.जी. साहेब ने इसमें हस्तक्षेप करना चाहा। भले ही वे मेरे सीनियर थे पर ये मुझे गवारा नहीं था। मेरे विद्रोह का परिणाम ये हुआ कि उन्होंने कई बार मुझे बदनाम करने की कोशिश की। पर क्या फ़र्क पड़ता है? कहीं आप सफल तो कहीं असफल हो जाते हैं। धूप और छाँव हमेशा साथ-साथ चलती हैं, हैं ना ?